।। दंसण मूलो धम्मो ।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ
अंक ग्यारहवाँ

फाल्गुन
२४७६

जीव का कर्तव्य

इस दुर्लभ मनुष्यभव में भी यदि जीव ने अपने स्वभाव को जानकर उसका आदर नहीं किया, तो फिर कब ऐसा अवसर मिलना है? अपने पूर्ण-स्वभाव को यथावत् जानकर उसी का आदर–श्रद्धा करना ही इस मनुष्यभव में जीव का कर्तव्य है।

(नियमसार, प्रवचन गाथा ३८)

एक अंक
चार आना

५९

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रम

१- महावीर की क्रिया और महावीर का उपवास
२- मोक्ष का उपाय
३- दीक्षावन में वैराग्य भावना
४- सत्य वस्तु स्वरूप
५- आत्मधर्म की फाइलों के लिए निवेदन

महावीर की क्रिया और महावीर का उपवास

[नियमसार प्रवचन, गाथा ३९]

प्रश्न :– मात्र 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा समझ जाने से क्या मोक्ष हो जाता होगा? कुछ शरीर की क्रिया तो करना चाहिए न? महावीर भगवान ने भी मुनिदशा में बारह वर्ष तक कष्ट सहन किये और उपवासादि क्रियाएँ कीं, तब तो उनको मुक्ति प्राप्त हुई न।

उत्तर :– भाई! तेरी बात अक्षरशः मिथ्या है। आत्मा किसे कहना?–उसका भी तुझे भान नहीं है, तब फिर भगवान आत्मा ने क्या किया उसकी तुझे कहाँ से खबर हो? तुझे आत्मा की क्रिया नहीं दिखती, मात्र जड़ की क्रिया दिखायी देती है। क्या भगवान दुःख सहन कर-करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं? या आत्मा के आनन्द का अनुभव करते-करते मुक्ति प्राप्त थी? उपवास आत्मा में होता होगा या शरीर में? उपवास करना सुखरूप होता है या दुःखरूप? भगवान ने वैसे उपवास नहीं किये जो दुःखरूप लगें, परन्तु अन्तर के चैतन्य समुद्र में डुबकी मरकर आत्मिक आनन्दरस के स्वाद के अनुभव में ऐसे लीन होते थे कि आहार का विकल्प नहीं उठता था, और उससे बाह्य में आहारा द सहज ही नहीं थे। ऐसी अन्तर क्रिया और ऐसे उपवास भगवान ने किये थे। अज्ञानियों ने अन्तर में आत्मा की क्रिया को तो नहीं जाना, और बाह्य में आहार का संयोग नहीं हुआ, इस बात को चिपट गये हैं, और उसी में धर्म मान लिय है। आहार तो जड़ है, परवस्तु है। परवस्तु का ग्रहण या त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अन्तर में निरुपाधि आत्मस्वभाव क्या है, उसके भान

बिना चैतन्य में लीनता कहाँ से होगी? शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर-मानकर उसी के अनुभव में एकाग्र होना, वह धर्मी जीवों की क्रिया है; यह क्रिया करने से मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी भी क्रिया से या विकारी भावरूप क्रिया से धर्म या मुक्ति नहीं होती।

सभी आत्माओं का पवित्र निरुपाधिक स्वभाव है; स्वभाव में तीनकाल में विकार नहीं है। वर्तमान अवस्था में जो विकार है, उसी को अपना स्वरूप मानकर उसके अनुभव में रुक जाये और उससे रहित जो त्रिकाली शुद्धस्वभाव है, उसे न माने, उसका अनुभवन न करे, तो जीव का अज्ञान दूर नहीं हो। हे जीव! त्रिकाली शुद्धस्वभाव को समझे बिना तू श्रद्धा को कहाँ एकग्र करेगा? और ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? निर्विकल्प शुद्धस्वभाव के साथ एकता और विकार से भिन्नता—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव करने के पश्चात् विकार हो, उसका जीव अपने स्वरूप के रूप में अनुभव न करें; इससे शुभाशुभ विकार के समय भी शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म सुरक्षित रहता है। और साधक जीव इसी प्रकार सदैव स्वभाव में एकतारूप और विकार से भिन्नरूप परिणमन करते हुए शुद्धता की पूर्णता करके केवलज्ञान प्रगट करते हैं।

राजकोट में पूज्य श्री कानजीस्वामी का आगमन और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी आजकल सौराष्ट्र में विहार कर रहे हैं। फाल्गुन शुक्ला १ शुक्रवार ता. १७-२-२० के दिन स्वामीजी राजकोट पधारेंगे। राजकोट में एक नूतन दिगम्बर जैन मन्दिर की रचना हुई है, उसमें श्री जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का मुहूर्त फाल्गुन शुक्ला १२ बुधवार ता. १-३-५० की है। प्रतिष्ठा के पंचकल्याणक आदि का प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ला १ से हो जायेगा। इसके अतिरिक्त, सोनगढ़ में विराजमान भगवान श्री सीमंधरस्वामी की प्रतिष्ठा का वार्षिकोत्सव फाल्गुन शुक्ला २ को है, वह भी राजकोट में ही मनाया जायेगा।

फाल्गुन
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-११

मोक्ष का उपाय

[मोक्ष अधिकार, गाथा २९८-२९९ पर पूज्य स्वामी का प्रवचन]

(१) यह मोक्ष अधिकार है; मोक्ष अर्थात् आत्मा की परमपवित्र दशा। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की परम शुद्ध मोक्षदशा के उपाय का अत्यन्त निकटता से वर्णन करते हैं। शरीर-मन-वाणी-धन या देव-गुरु-शास्त्र से आत्मा का हित होता है- यह मान्यता तो दूर कर दी है, अन्तर में दया-भक्ति इत्यादि पुण्य-भावों से मुक्ति होती है– ऐसी मान्यता को भी मोक्षमार्ग में से दूर ही कर दिया है। और अब तो, 'मैं चेतना द्वारा आत्मा को चेतता हूँ'– ऐसे भेद के विकल्प को भी दूर करके चेतना के अभेद अनुभव की बात आयी है; –यही मोक्ष का उपाय है। पहले अज्ञानदशा में परलक्ष्य करके विकार का ही अनुभवन करता था; अब चेतना लक्षण द्वारा आत्मा को जानकर शुद्ध चेतना की ओर उन्मुख होता है, भेद के विकल्प को तोड़कर चेतना अभेद स्वभाव में ढ़लती है अर्थात् स्वभाव में अभेद होने से भेद का विकल्प टूट जाता है।

(२) चेतना ही आत्मा का लक्षण है। चेतना-दर्शन ज्ञानमय है, पुण्य-पाप आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। पर की ओर देखते रहने का नाम ज्ञाता-दृष्टापना नहीं है, परन्तु अपने ज्ञायक-दर्शक स्वभाव को पहचान कर उसमें स्थिर रहना ही ज्ञाता-दृष्टापना है। हमें ज्ञाता-दृष्टा रहकर पर के कार्य करनी चाहिए– ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है; क्योंकि आत्मा पर का कर ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन लक्षण द्वारा अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना, वह मोक्ष का निकट उपाय है। निकट उपाय क्यों कहा? क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है; परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्थिरता, वह मोक्ष का साक्षात् उपाय है; इससे उसे निकट उपाय कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूपस्थिरता के बिना मोक्ष नहीं होता।

(३) भगवान शुद्ध आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना? अर्थात् आत्मस्वभावोन्मुख

होकर उसका अनुभव किसप्रकार करना? उसकी रीति आचार्यदेव बतलाते हैं। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना ही मैं हूँ – इस प्रकार आत्मा का अनुभवन करना चाहिए। यद्यपि 'मैं ऐसा हूँ'– ऐसे भेद के विकल्प द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता परन्तु कथन में भेद आये बिना नहीं रहता।

(४) चेतना किसे कहना? भगवान की भक्ति में जो मधुर झनकार उठे, उसमें चेतना नहीं है और जो भक्ति का शुभविकल्प उठा, वह भी चेतना का स्वरूप नहीं है। स्वरूप तो जानने-देखनेरूप ही है। देखने में सामान्य 'है' इतना ही आता है, किन्तु उसमें भेद नहीं पड़ता, ज्ञान में सबकुछ भेदकर ज्ञात होता है, ऐसे ज्ञान-दर्शनमय चेतना ही आत्मा है– ऐसा जानकर आत्मा में अभेद होना, वह मोक्ष का उपाय है। भाई ! तू चेतक है, जानना-देखना ही तेरा स्वरूप है, और यही स्वरूप चारित्ररूप परमानन्द मुक्तदशा का उपाय है।

(५) सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मैं दृष्टा आत्मा में लीन होता हूँ; बाह्योन्मुख होनेवाले पुण्य-पाप के बंध भावों से भिन्न अपने स्वरूप को जानकर, अबंध भावों को छेदकर, अपने दृष्टा स्वरूप में मैं अभेद होता हूँ। बंध भावों को छेदना और स्वरूपोन्मुख होना-यह दोनों कहीं पृथक्-पृथक् नहीं हैं; स्वरूपोन्मुख हुआ अर्थात् बंधभाव नष्ट हो गया। यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि भेद के विकल्प को तोड़कर अभेद अनुभव द्वारा ही आत्मा का ग्रहण होता है। 'मैं दृष्टा हूँ, ज्ञाता हूँ'– ऐसे अन्तरङ्ग भेद के विकल्प द्वारा भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता; तब फिर पुण्य-पाप की वृत्ति से या बाह्य क्रिया से आत्मा का ग्रहण (आत्मा का अनुभव) कैसे हो? और धर्मीजीव उसका कर्तृत्व कैसे माने? नहीं ही मानता। पहले ऐसा भान करना चाहिए। ऐसे भान के बिना सच्चा चारित्र नहीं होता और सच्चे चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। आत्मा को पहचानकर उसका ग्रहण करना ही मोक्ष का उपाय है।

बाह्य क्रिया से या पुण्यभाव की प्रवृत्ति करते रहने से आत्मा की बंधभाव से निवृत्ति नहीं होती, परन्तु अपने दृष्टास्वभाव में मैं अपनी प्रवृत्ति करके, उसमें लीन होकर, बंधभाव से निवृत्ति करता हूँ। इस प्रकार दृष्टा आत्मा में लीन होना ही ज्ञान का चारित्र है और वही धर्म है।

(६) **प्रश्न :–** इसमें धर्म किसप्रकार आया? इसमें कहीं पर की सेवा अथवा पर को सुखी करना तो नहीं आया; तब फिर धर्म किस प्रकार हुआ?

उत्तर :– भाई ! कोई भी जीव पर की सेवा या पर को सुखी-दुःखी कर ही नहीं सकता। प्रत्येक जीव अपने भावों के अतिरिक्त बाह्य में कुछ भी नहीं कर सकता। पहले अज्ञानभाव से पर का और विकार का अभिमान करके आत्मा के स्वभाव का असेवन करता था और अज्ञानभाव

से स्वयं दुःखी होता था–वह अधर्म था। अब चैतन्य लक्षण के द्वारा अपने आत्मा को पर से और पुण्य-पाप से पृथक् जानकर अपने स्वभाव का सेवन करता है और अज्ञानभाव का अनन्त दुःख टालकर स्वतः अपने आत्मा को सुखी करता है, वही धर्म है।

(7) **प्रश्न :–** लाठी मारकर तो दूसरे को दुःखी किया जा सकता है न?

उत्तर :– नहीं; प्रतिकूल संयोग कही दुःख का स्वरूप नहीं है। और लकड़ी मारने या न मारने की क्रिया भी सामनेवाला जीव नहीं कर सकता, वह जीव मात्र दुःख देने के पापभाव करता है; परन्तु उसके पापभावों का फल उसके पास रहता है, उसके भावों के कारण इस जीव को दुःख नहीं होता; और शरीर पर लाठी पड़ने के कारण भी इसे दुःख नहीं हुआ है। उसे दुःख हो तो उसकी अपनी शरीर की ममता के कारण ही होता है। इसलिए कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता।

(8) **प्रश्न :–** एक जीव दूसरे को दुःखी न कर सके; परन्तु असाता-कर्म का उदय तो दुःख का कारण है न?

उत्तर :– ऐसा भी नहीं है; क्योंकि असाताकर्म का उदय तो बाह्य संयोग मिलाता है, परन्तु उस संयोग के समय दुःख की कल्पना तो जीव स्वतः मोहभाव से करे, तभी उसे दुःख होता है; इसलिए असाताकर्म के उदय से दुःख नहीं होता परन्तु मोहभाव से ही दुःख होता है। असाता के संयोग के समय भी यदि स्वतः मोहद्वारा दुःख की कल्पना न करे और आत्मा को पहचान कर उसके अनुभव में रहे तो दुःख नहीं होता। बाह्य संयोग को नहीं बदला जा सकता; किन्तु संयोग की ओर के वेदन को बदला जा सकता है।

(९) अज्ञानी सुख-दुःख के तथा बंध-मोक्ष के मूल कारण को नहीं समझते और परजीवों का या कर्म आदि का दोष बताते हैं। जिसप्रकार कुत्ते को कोई लकड़ी मारे तो कुत्ता उस लकड़ी से ही चिपटता है और उसे मुँह में भर लेता है; लेकिन यदि सिंह को गोली लगे तो वह गोली की ओर नहीं देखता, परन्तु गोली मारनेवाले पर ही हमला करता है। उसी प्रकार शरीर में क्षुधा-रोग इत्यादि तो संयोग हैं, बाह्य निमित्त हैं। अज्ञानी उन संयोगों को ही दुःख का कारण मानकर उनका दोष निकालता है; किन्तु अन्तरंग ममत्व ही दुःख का कारण है, उस ममत्व को नहीं जानता, उसे दूर नहीं करता और कुत्ते के दृष्टान्त की भाँति शरीर के संयोग को ही दुःख का कारण मानकर उसे बदलना चाहता है। और जो ज्ञानी हैं, वे तो पुरुषार्थ में सिंहवृत्ति रखते हैं; वे किसी भी संयोग को दुःख का कारण नहीं मानते, इससे उन्हें संयोग बदलने की बुद्धि नहीं होती। अपने दोष से जो

रागादि भावबंध है, वही दुःख का कारण है – ऐसा जानकर, और उन रागादि से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को पहचानकर स्वभाव के पुरुषार्थ की उग्रता के बल से उन रागादि को नष्ट कर देना चाहते हैं। कोई परवस्तु तो दुःख कारण है ही नहीं। और इसीप्रकार देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि कोई भी परवस्तु आत्मा को सुख का या धर्म का कारण भी नहीं है। अपने चैतन्यस्वभाव को जानकर उसका ग्रहण करना, उसमें लीन होना ही एकमात्र मोक्ष का सुख का या धर्म का उपाय है।

(१०) अहो! सत्य तो ऐसा ही है; वस्तु का अपना स्वरूप तो ऐसा ही है; तथापि कोई विपरीत माने तो वह उसके घर का है; जैसा वह मानता है, वैसा तो वस्तु-स्वरूप नहीं है, इससे उसे कभी धर्म नहीं होता और अनन्त दुःख नहीं मिटता।

कोई किसी को सुख या दुःख नहीं दे सकता, तथापि मैंने पर का किया और पर मेरा करता है – ऐसा जिसने माना है, वह जीव मिथ्यात्व के पाप का सेवन करके अनन्त-संसार में भटकता है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि मैं दृष्टा हूँ, मैं अपने स्वभाव को ही देखता हूँ। किसी पर का कर्ता नहीं हूँ, पुण्य का कर्ता नहीं हूँ; मैं तो दृष्टास्वरूप अपने आत्मा को देखता ही हूँ। यहाँ साधक जीव को स्वभावोन्मुख होना है, इससे पर का दृष्टा हूँ–यह बात नहीं ली है, परन्तु मैं दृष्टा आत्मा को ही देखता हूँ – ऐसा कहा है। इस देखने में ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है। वही आत्मधर्म के प्रारम्भ का उपाय है।

(११) धर्मी जीव कहता है कि मैं देखता ही हूँ, अर्थात् मैं दृष्टारूप ही होता हूँ, रागादि विकाररूप नहीं होता। और मुझे देखने में किसी पुण्य का साधन नहीं है, किसी राग के साधन द्वारा में देखता नहीं हूँ, परन्तु दृष्टा द्वारा ही देखता हूँ। पुण्य-परिणामों को धर्म का साधन मानकर दृष्टास्वभाव द्वारा ही दृष्टाशक्ति प्रगट होती है– ऐसा मानना ही धर्म है। बाह्य में किसी भी परवस्तु को लेने-देने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। अज्ञानी लोग इस बात के कान में पड़ते ही भड़क उठते हैं और कहते हैं कि:–'ऐसा कहनेवाले पागलों के अस्पताल में भेजे जाने योग्य हैं।' क्या किया जाये? यह तो वे अपने भावों की घोषणा कर रहे हैं – इनके मिथ्यात्व का बल ही ऐसा पुकार रहा है। अरे भाई! इस बात के समझनेवालों को तेरे माने हुए अस्पताल में नहीं जाना है, उन्हें तो सिद्ध के अस्पताल में जाना है। और जो सत्य को न समझकर उसका विरोध करेंगे, वे अपनी ज्ञान-शक्ति को हारकर पागल होकर निगोद में जायेंगे।

(१२) **प्रश्न :–** यदि कुछ दूसरों की सेवा आदि परमार्थ के कार्य करें तो कुछ किया हुआ कहलाता है। अकेला अपना करे और दूसरों का कुछ न करे – इसमें क्या है? अपना पेट तो कुत्ते भी भरते ही हैं।

उत्तर :– पर का कुछ करना परमार्थ है – वह बात ही बिलकुल मिथ्या है। लोगों को महान भ्रम हो गया है कि पर के कार्य करना, वह परमार्थ है; परन्तु परमार्थ की ऐसी व्याख्या नहीं है। परमार्थ–परमपदार्थ अर्थात् (परम+अर्थ) परमपदार्थ-उत्कृष्ट पदार्थ तो आत्मा है, उसे पहचानना ही सच्चा परमार्थ है। अथवा परमपदार्थ अर्थात् मोक्ष; उसका उपाय करना अर्थात् आत्म–प्रतीति करना ही परमार्थ है। परन्तु मैं पर की सेवादि कार्य कर सकता हूँ–ऐसा मानना, वह परमार्थ नहीं है; उलटी इस मान्यता में तो आत्मा के परमार्थ की हत्या होती है। कोई आत्मा, पर के कार्य कर ही नहीं सकता। धर्मसभा में जैन परमात्मा सर्वज्ञदेव ने जो कहा है, वही यह धर्म है। जैसा वस्तुत्वरूप है, वैस ही जैन तीर्थङ्करों ने जानकर घोषित किया है, वह यही है।–ऐसा वस्तुस्वरूप समझना धर्म है।

(१३) **प्रश्न :–** इस धर्म से समाज को तो कुछ लाभ नहीं हुआ?

उत्तर :– वस्तु का सत्य स्वरूप तो इसी प्रकार है। समाज के जीवों को सत्य से लाभ होता है या असत्य से? सबको सत्य से ही लाभ होता है। जिस सत्य से एक को लाभ हो, उसी से अनन्त को लाभ होता है। संसार के जीव सत्य वस्तुस्वरूप को नहीं समझे हैं, इसी से वे दुःखी हैं, यदि सत्य वस्तुस्वरूप को समझे तो दुःख दूर हो और सुख का लाभ हो। सत्य समझे बिना किसी को लाभ नहीं होता और सत्य से कभी किसी को हानि नहीं होती। जीवों को जो हानि होती है, वह उनको अपने असत्य भावों (मिथ्या प्रतीति से) ही होती है। इस सत्य में तो लाभ का ही धंधा है, उसमें किसी को हानि है ही नहीं।

(१४) वास्तव में आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से राग भी असत् है, उस राग से स्व को या पर को लाभ नहीं होता। देखो, जिस राग के निमित्त से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, उस राग से भी वास्तव में किसी को लाभ नहीं होता क्योंकि वर्तमान में उस जीव के उस राग के कारण अपनी वीतरागदशा रुकी हुई है; जब स्वभाव के बल से उस राग को दूर करेगा, तब वीतरागता और मुक्ति होगी। इसलिए उस राग से अपने को लाभ नहीं है। अब, यह बात समझायी जाती है कि उस राग से पर को भी लाभ नहीं है। प्रथम तो उस राग के निमित्त से जो तीर्थंकरनामकर्म का बंध हुआ, उसका फल तो उस राग का अभाव होने के पश्चात् ही आता है, अर्थात् जब उस राग को छेदकर केवलज्ञान प्रगट करता है, तभी तीर्थंकरनामकर्म उदय में आता है और दिव्यध्वनि खिरती है। जब तक दिव्यध्वनि सुननेवाले का लक्ष्य वाणी पर है, तब तक उस जीव को विकल्प और राग की उत्पत्ति होती है; जब वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वयं अपने स्वलक्ष्य से स्थिर हो, तभी

सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है। इसलिए निश्चित हुआ कि राग से पर को भी लाभ नहीं होता। अपने को स्वलक्ष्य से लाभ हुआ, वहाँ उपचार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान की वाणी से अपूर्व लाभ हुआ। अथवा तो 'उदय श्री जिनराजनो, भविजीव ने हितकार।' परन्तु यह मात्र उपचार का कथन है; वास्तव में पर से लाभ नहीं हुआ है, अपने राग से भी लाभ नहीं हुआ, परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही लाभ हुआ है।

(१५) यह तो अपने आत्मा की बात है, सत्य का स्वरूप है। बुद्धिमान जिज्ञासु कुम्हार भी स्वीकार करे ऐसी है; तब फिर जैन कुल में आकर 'मेरी समझ में नहीं आता' – ऐसा कैसे कहा जा सकता है? रुचिपूर्वक ध्यान रखे तो आत्मा की समझ में न आये – ऐसा कुछ है ही नहीं। इस समय तो सत्य की प्रतीति करके हाँ कहनेवाले बढ़ते जा रहे हैं – इस अपेक्षा से काल अच्छा है। सत्य का स्वीकार करनेवाले विनय से निमित्त का बहुमान करते हैं, परन्तु परमार्थ से तो अपने को जो स्वभाव समझ में आया, उसी का बहुमान करते हैं, वास्तव में कोई जीव पर का बहुमान करते ही नहीं।

(१६) **प्रश्न :–** कोई किसी का बहुमान नहीं कर सकता – ऐसा यदि मानें तो तीर्थंकरों की अविनय नहीं हो जायेगी?

उत्तर :– तीर्थंकरों की विनय किसे कहा जाये? तीर्थंकर भगवान वीतराग हैं, वास्तव में राग द्वारा उनकी विनय नहीं होती। जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान ने स्वयं किया और कहा, उसी प्रकार समझना और भगवान चैतन्य ज्योति का बहुमान करके उसमें स्थिर होना ही तीर्थंकर की सच्ची विनय है। सत् समझने से विनय जाती नहीं है, परन्तु सत् को समझने से ही सत् की यथार्थ भक्ति और विनय होती है। पहले अज्ञानता के कारण कुदेवादि के सामने मस्तक झुकाता था; अब सच्चा समझने में जब तक वह वीतराग नहीं होगा, तब तक बीच में सत् निमित्त की विनय, भक्ति और बहुमान आये बिना नहीं रहेंगे; किन्तु परमार्थ से वहाँ पर का बहुमान नहीं है, परन्तु अपने भावों का ही बहुमान है। ज्ञानी अपने स्वभाव को ही सर्वोत्कृष्ट जानकर उसका आदर करते हैं। स्वभाव के आदर में तीर्थंकरों की विनय का समावेश हो जाता है।

श्री आनन्दघन जी कहते हैं :–

अहो! अहो! मुजने कहुँ, नमो मुज नमो मुज रे...
अमित फल दान दातारनी, जेथी भेंट थई तुज रे...

जहाँ अपने परिपूर्ण स्वभाव का भान हुआ, वहाँ बाह्य में किसकी महिमा करेगा? इससे

स्वयं अपने को ही नमस्कार करता है। वास्तव में जब स्वयं अपना स्वरूप समझकर बहुमान करता है, तब शुभराग के कारण 'तीर्थंकरादि का बहुमान किया'– ऐसा उपचार से कहा जाता है। परन्तु जो विकार को ही अपना स्वरूप मानता है, वह अपने पवित्र निर्विकार स्वरूप का अनादर करता है, वह अनन्त तीर्थंकरों का अनादर करता है; क्योंकि भगवान ने जो कहा और जो किया, उससे वह विरुद्ध करता है।

(१७) कोई भी संयोगी वस्तु राग-द्वेष का कारण नहीं है; क्योंकि यदि मैं स्वयं पुरुषार्थ की निर्बलता से परलक्ष्य न करूँ और स्वभाव में स्थिर होऊँ तो राग-द्वेष नहीं होते–ऐसा जाना, वहाँ अनन्त निमित्तों का पक्ष श्रद्धा में से दूर हो गया, अर्थात् निमित्त के ऊपर की दृष्टि टल गई और स्वभावोन्मुख हुआ। अब ज्यों-ज्यों ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में एकाग्र होने लगा, त्यों-त्यों राग-द्वेष कम होने लगे। स्वभाव में आने से राग टूटने लगा और पर्याय की निर्मलता बढ़ने लगी; उसका कारण कोई राग या पर का अवलम्बन नहीं है, परन्तु अन्तर की त्रिकाल चैतन्यशक्ति ही है। बस, जितना दृष्टास्वभाव में एकाग्र हुआ, उतना तो राग दूर हुआ और निर्बलता से जो अल्प राग रहा, उसका ज्ञाता रह गया। इसमें निमित्त, पुरुषार्थ की अशक्ति, पर्याय और त्रिकाली स्वभाव– यह चारों सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु उनमें आश्रय तो एक त्रिकाली स्वभाव का ही करना आता है।

(१८) निमित्तों को देखने से राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि केवली-भगवान भी निमित्तों को देखते हैं, तथापि उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। कोमल शय्या राग का कारण नहीं है और काँटे चुभें, वह द्वेष का कारण नहीं है, इस प्रकार सभी निमित्तों में लाभ-हानि की तथा राग-द्वेष की मान्यता छूट जाने से वीतराग अभिप्राय हुआ, और अनन्त निमित्तों की दृष्टि से विमुख होकर स्व की ओर देखने लगा।

(१९) अपनी पर्याय में पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग-द्वेष होता है, वह किसके आधार से दूर होगा? प्रथम तो किसी निमित्त से वह राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए निमित्त के आधार से वह दूर नहीं होगा, और राग के आधार से भी राग दूर नहीं होता। राग, स्वभाव को सहायक नहीं है, क्योंकि ज्यों-ज्यों विशेष स्वभावोन्मुखता होती जाती है, त्यों-त्यों राग दूर होता जाता है और निर्मलदशा प्रगट होती जाती है। उस निर्मलदशा के आधार से (उस पर्याय के लक्ष्य से) भी रागादि दूर नहीं होते। परन्तु वह पर्याय, सामान्य स्वभाव के आधार से आती है, उस स्वभाव के आधार से ही रागादि दूर हो जाते हैं। इस प्रकार सामान्य के आधार से विशेष है, और राग-द्वेष के अभाव से विशेष है; विशेष की निर्मलता में सामान्य स्वभाव के आश्रय की अस्ति है और राग-द्वेष की नास्ति है। एक का आधार है और दूसरे का अभाव है। इस प्रकार पर्याय की निर्मलता बढ़ने का

अर्थात् मोक्षमार्ग का और मोक्ष का कारण कोई निमित्त नहीं हैं, राग नहीं है, पूर्व अवस्था नहीं है, परन्तु त्रिकाल सामान्य-स्वभाव ही उसका कारण है। इससे मोक्षार्थियों को सामान्य के ही साथ विशेष को एकमेक करना रहा– यही मोक्ष का उपाय है। इसमें स्व में अभेद करने की ही बात है। पहले भेद का विकल्प उठता है, परन्तु वह उपाय नहीं है; भेद तोड़कर अभेद हो जाना ही उपाय है। अभेद में आने से ही भेद टूट जाते हैं।

(२०) श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने दो हजार वर्ष पूर्व यह रचना की है और एक हजार वर्ष पहले श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने उसकी टीका रची है; उसका यह विस्तार हो रहा है, उसे जीव समझ सकें, इसलिए यह विस्तार किया गया है। तथापि जो जीव कहते हैं कि हम नहीं समझ सकेंगे, वे जीव दोनों का (समझानेवाले और समझनेवाले का) अपराध-अविनय करते हैं, इससे वास्तव में वे अपने ज्ञान का ही अपराध है।

आचार्य प्रभु को जो विकल्प आया है, वह विकल्प, स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण दूर होता जाता है; बाह्य में शब्दों की (ग्रन्थ-रचना की) क्रिया स्वयं होती जाती है, और आचार्य प्रभु की वृत्ति प्रतिक्षण विशेष निर्मलतारूप से अनन्तरोन्मुख होती जाती है। आचार्यदेव को विकल्प उठा और जिनशास्त्रों की रचना हुई। ऐसे महान पवित्र योग से इस काल मे रचे गये इन शास्त्रों को समझने योग्य जीव न हों – ऐसा कैसे हो सकता है? हजारों पात्र जीव समझने की तत्परतावाले हैं और एकावतारी भी इस काल में होते हैं। यदि इस काल में आत्मस्वभाव न समझा जा सकता हो तो सन्तों की वाणी, टीका, शास्त्र रचना का और कथन करनेवाले का विकल्प– यह सब व्यर्थ ही जाते हैं। इसमें कुछ समझ में आता है? श्रोता :– जी हाँ, महाराज! समझ में तो अवश्य आता है; लेकिन इसमें ध्यान बहुत रखना पड़ता है।

(३२१) कहाँ ध्यान रखे बिना समझ में आता है? पैसा कमाने की या सगाई–व्याह की जो बात अपने को अनुकूल लगती है, उसमे कैसा ध्यान रखता है? तब फिर स्वभाव को समझने के लिए तो अपूर्व एकाग्रता होना ही चाहिए। व्यापारादि का ज्ञान उनमें ध्यान रखे बिना नहीं होता, रसोई बनाने का ज्ञान भी ध्यान रखे बिना नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा की प्रतीति भी ध्यान के बिना नहीं होती। ध्यान रखने का अर्थ है–ज्ञान को उस ओर एकाग्र करना। यदि स्वभाव की ओर ज्ञान को एकाग्र करे तो अवश्य समझ में आये।

(२२) जितनी देखने की निर्मल अवस्था हो, उसकी एकता आत्मा से है, परन्तु जो पुण्य की वृत्ति उठे, गुण-गुणी भेद की शुभवृत्ति उठे, उसकी एकता आत्मा में नहीं है। पुण्य-पाप रहित

जितनी स्वभावदशा है, वही मुक्ति में जाकर मिलती है। पुण्य-पाप के भाव तो दूसरे ही क्षण छूट जाते हैं। इसप्रकार पर से तो पृथक् किया और अपने में भी भंग-भेद का आश्रय छुड़ाकर अभेद अनुभव में लाते है। इस प्रकार मुक्ति के बिल्कुल निकट लाये हैं। अभेद का अनुभव ही मोक्ष का उपाय है। हे जीव! समस्त पराश्रयभाव और भेद-संग को छोड़कर अभेद स्वभाव की ओर बढ़! अज्ञानी जीव भी पर का कार्य तो नहीं कर सकता; तब फिर ज्ञानी तो वह विकल्प भी कैसे करेगा? परलक्ष्य से होनेवाले विकल्प से भी हटकर निर्विकल्प स्वभावोन्मुख होना ही मुक्ति का उपाय है। 'मैं दृष्टा हूँ, इसीलिए देखता हूँ' अर्थात् दृष्टा की पर्याय देखनेरूप स्वभाव में ही स्थिर रहे; इसके लिए मैं दृष्टारूप से देखता ही हूँ। चेतना की अखण्डता है, वह स्वभाव की एकता में जाती है।

(२३) देखो, यह अन्तर की सूक्ष्म बात है। आत्मा का मोक्ष कैसे हो–उसकी यह बात है। आत्मा को पर से तथा पुण्य-पाप से पृथक् जानकर, स्वभाव का अनुभव कैसे करना–उसकी यह बात है। स्वरूपोन्मुख होकर एकदम मोक्षप्राप्त करने की यह बात है। मैं दृष्टारूप से देखता ही हूँ, दृष्टा को ही देखता हूँ, दृष्टा में दृष्टा द्वारा, दृष्टा के लिए ही देखता हूँ–इत्यादि छहकारक सम्बन्धी विकल्प बीच में आ जाते हैं, परन्तु उन विकल्पों में रुके बिना, चेतना को स्वभाव की ओर बढ़ाकर–एकाग्र करके–चेतनमात्र भाव में स्थिर होकर मैं अपने को देखता हूँ–ऐसा अभेद अनुभव करने की यह घोषणा है। आचार्य भगवान अभेद स्वरूप का अनुभव करने के लिए मोक्षार्थी जीवों आमंत्रण देते हैं।

(२४) मैं देखता हूँ–अपने को देखता हूँ–इत्यादि छह कारक भेद के विकल्प होने पर भी इन छहों कारकों में दृष्टा तो एक ही स्थायी अखण्ड है। दृष्टा छह भेदरूप नहीं हो जाता। यहाँ निमित्त से देखता हूँ या राग से देखता हूँ अथवा इन्द्रियों से देखता हूँ–ऐसी तो बात ही नहीं है; क्योंकि इन सबका लक्ष्य छोड़कर अब स्वभावोन्मुख होता है, और स्वभावोन्मुख होते-होते विकल्प उठता है, उसका निषेध करता है।

अब, छह कारक भेद के जो विकल्प उठते हैं, उनका निषेध करते हैं 'मैं नहीं देखता हूँ न देखता हुआ देखता हूँ, न देखनेवाले के लिए देखता हूँ, न देखनेवाले में से देखता हूँ, न देखनेवाले में देखता हूँ और न देखनेवाले को देखता हूँ; परन्तु सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ'–इस प्रकार धर्मी जीव आत्मा का अनुभव करता है और वही मोक्ष का उपाय है।

(२५) यहाँ 'मैं नहीं देखता हूँ' इत्यादि प्रकार कहे हैं, उनमें कहीं दृष्टापने का अस्वीकार नहीं किया है, परन्तु 'मैं' और 'दृष्टा'–ऐसे जो गुणगुणी के भेद पड़ते हैं, उनका अस्वीकार किया

है। अनुभव के समय आत्मा में से दृष्टा-शक्ति नहीं चली जाती, परन्तु 'मैं दृष्टा हूँ'–ऐसा विकल्प नहीं होता। यहाँ दृष्टाशक्ति सम्बन्धी विकल्प तोड़कर अभेद में स्थिर होने के लिए यह बात ली है। भेद का अस्वीकार करने में भी विकल्प है। 'मुझमें भेद नहीं है'–इस प्रकार भेद का अस्वीकार करने में भी निषेध का विकल्प है, इसलिए वास्तव में 'भेद का निषेध करूँ' या 'विकल्प दूर करूँ'–ऐसे लक्ष्य से भेद का विकल्प दूर नहीं होता; परन्तु अभेद के अनुभव में स्थिर होते ही भेद का विकल्प हट जाता है। परन्तु समझाना किस प्रकार? कथन में तो भेद पड़े बिना रहते नहीं। अनुभव के समय विकल्प नहीं होता, परन्तु जब अनुभव का वर्णन करने बैठे तब तो (छद्मस्थ को) विकल्प होता है और कथन में भेद आता है। यदि समझनेवाला स्वयं आशय को समझकर अभेद को लक्ष्य में ले ले तभी वस्तु का अनुभव कर सकता है।

(२६) धर्मात्मा जीव अथवा धर्मात्मा होने की तत्परतावाला जीव भावना करता है कि – मैं एक अखण्ड चेतकस्वभाव हूँ। 'मैं' और 'दृष्टा'–ऐसे दो भेद मुझ में कैसे? इसमें चेतना को विशेष बढ़ाकर स्वभाव के साथ एकता करके विकल्प तोड़ने के पुरुषार्थ की उग्रता है, यही धर्म का उपाय है। हे जीव! 'मुझ से यह नहीं होगा'–इस प्रकार इन्कार मत करना। स्वीकार ही करना। स्वभाव की स्वीकृति से बढ़ेगा तो यह समझ में आयेगा, अस्ति के बल से ही ऐसी दशा प्रगट हो जायेगी। परन्तु यदि इन्कार करेगा तो नास्ति से कभी यह दशा नहीं आयेगी। इसलिए पहले से ही बलात् स्वीकार करना चाहिए। 'बलात् स्वीकार करना' अर्थात् अन्तर में स्वीकार करके समझने का पुरुषार्थ करना। यदि पहले से ही इन्कार करेगा तो उसका पुरुषार्थ आगे नहीं बढ़ेगा।

(27) विकल्प होने पर भी धर्मात्मा जीव विचार करता है कि इस विकल्प में रुकनेवाला भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो अखण्ड दृष्टा-ज्ञातास्वरूप ही हूँ। दृष्टा-ज्ञातापने के अतिरिक्त दूसरा कुछ मेरा कार्य नहीं है। मैं कर्ता और दृष्टा-ज्ञातापने की क्रिया मेरा कर्म–ऐसे दो भेद के विकल्प भी मेरे स्वरूप में नहीं है। मेरे एक स्वभाव में दो प्रकार नहीं हैं।

प्रथम 'मैं देखता ही हूँ'–इस प्रकार स्वीकृति से बात ली है और फिर 'मैं नहीं देखता'– इस प्रकार भेद की अस्वीकृति से बात ली है,–इन दोनों में राग का विकल्प है। स्वरूप में एकाग्रता के समय विकल्प नहीं होता। यहाँ भेद की अस्वीकृति का विकल्प प्रवर्तमान होने पर भी उस अस्वीकृति के विकल्प के पीछे जो अस्ति स्वभाव है, वह ज्ञान में अभेदरूप से आता है, और उस अभेद की ओर उन्मुखता के बल से ही भेद का विकल्प टूट जाना है।

(२८) यहाँ, कोई जड़ कर्म, आत्मा को अनुभव करने से रोकता है–ऐसा नहीं कहा,

परन्तु भेद का विकल्प बीच में आता है–ऐसा कहा है। अज्ञानी मानते हैं कि व्यवहार सहायक है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं भेद के विकल्परूप व्यवहार बीच में आता है, वह अभेद स्वभाव के अनुभव को रोकता है। अपने स्वरूप की अनुभूति में बीच में जो विकल्प आड़े आ जाता है, उसे अभेद के लक्ष्य से छोड़ देने की बात करके अभेद में स्थिरता करना बताते हैं।

(२९) अनुभव में कारकभेद के विकल्प नहीं हैं–ऐसा अस्वीकृति से कहा है; परन्तु वहाँ है क्या? अनुभव करनेवाला कैसा अनुभव करता है? वह कहते हैं। 'सर्व विशुद्धि दर्शनमात्र एक निर्मलभाव हूँ'–ऐसा निर्विकल्प अनुभव होता है। इस अनुभव के समय 'मैं सर्व विशुद्ध दर्शनमात्र हूँ'–ऐसा विकल्प भी छूट गया है। पहले अव्यक्तरूप से जो बात प्रतीति में ली है, उसे भावना में व्यक्त करता है–प्रगट अनुभव करता है। यह भावना उस निर्मलपर्यायरूप है। मोक्षमार्ग द्रव्य या गुण नहीं है, परन्तु निर्मलपर्याय ही है। विकल्प पर्याय बदलकर अभेद में ढ़लती है। जिस जीव ने सत् का श्रवण करके अभेद स्वभाव को लक्ष्य में लिया तथा एकदम स्वभाव के विकल्प तक आया, वह अब स्वभाव का अनुभव किये बिना लौट जाये–ऐसा हो नहीं सकता। विकल्प करते-करते आगे नहीं बढ़ता, परन्तु पहले से ही जो अभेद के लक्ष्य से चला है, वह विकल्प तोड़कर अभेद को प्राप्त कर लेता है।

(३०) **प्रश्न :–** यह सब किसे सुनाते हो?

उत्तर :– यह जिससे हो सकता है, उससे कहा जाता है। यह जीव की बात है। यह प्रत्येक जीव से हो सकती है; इसलिए कही जाती है; जड़ के सामने यह बात नहीं समझायी जाती। चेतन में सबकुछ समझने की शक्ति है, फिर समझ में न आये, यह कैसे हो सकता है? हे जीव! भगवान ने जो कहा है, वह सब तुझ से हो सकता है, इसीलिए कहा है। तुझ में जितनी शक्ति देखी है, उतना ही भगवान ने कहा है; जो तुझसे न हो सके–ऐसा कुछ भी भगवान ने नहीं कहा है। इसलिए 'मेरी समझ में नही आता'–ऐसा इन्कार करना ही नहीं। तू चेतन समझने की शक्तिवाला है और तुझे समझना ही कहा है, परन्तु कहाँ चेतन में से जड़ हो जाने के लिए तुझसे नहीं कहा है, क्योंकि वह तुझसे नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञान तो तेरा स्वरूप है और वह तुझसे हो सकता है।

लोगों में भी - जिसने मन का वजन उठ सकता है, उसी से कहते हैं कि घर से मनभर गेहूँ ले आओ, लेकिन दो वर्ष के बालक से वैसा नहीं कहते। और जिसे रसोई बनाना आता है, उसी स्त्री से रसोई बनाने को कहते हैं परन्तु छह महीने की बच्ची से रसोई बनाने के लिए नहीं कहते; क्योंकि वहाँ सामनेवाले की शक्ति देखकर ही कार्य बताया जाता है। अरे भाई! वहाँ तो

देखनेवाले अज्ञानी भी होते हैं, परन्तु यहाँ तो तीनलोक के नाथ, परमपिता चैतन्यमूर्ति सर्वज्ञ भगवान तेरी योग्यता देखकर तुझसे कहते हैं कि–'तू आत्मा है, ज्ञान-दर्शनमय है, तुझमें परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन की शक्ति है, इसलिए ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त समस्त भावों को छोड़ दें, और अकेले ज्ञायक-दर्शक आत्मा की ही प्रतीति करके उसी का अनुभव कर! यही मुक्ति का उपाय है।' भगवान ने ऐसा उपदेश किया है, और यदि तू ऐसा कहे कि यह मुझसे कैसे होगा? तो तूने सर्वज्ञ को ही नहीं माना है और अपने आत्मा को भी नहीं माना है। तुझसे हो सकता है–ऐसा जानकर सर्वज्ञ भगवान ने कहा है और तू कहता है कि मुझसे नहीं होगा, तो तूने सर्वज्ञदेव का विरोध किया, इससे अपनी शक्ति का भी तूने अनादर किया है। परन्तु भाई! जिससे अपना स्वतन्त्र स्वरूप समझ में आता है, वही कहा है, इसलिए तू अपनी शक्ति का विश्वास कर! यहाँ तक आया है और अब इन्कार करके फिर लौट जाये–ऐसा नहीं हो सकता। तुझमें सर्व सामर्थ्य है, उसका स्वीकार करके हाँ कह! अपने स्वभाव की हाँ तो कह! स्वभाव की स्वीकृति में से सिद्धदशा आयेगी, परन्तु अस्वीकृति से नहीं; इसलिए अस्वीकार मत कर!

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि हे नाथ! जगत् में सत् स्वरूप की अस्वीकृति करनेवाला अधिक भाग है, सत् में कोई साथ नहीं देता; तथापि मैं तो ढिठाई करके अर्थात् जगत से प्रयोजन छोड़कर आपके निकट चला आ रहा हूँ–इस प्रकार अपने स्वभाव की दृढ़ता और बहुमान करते हैं। उनके समय में तो लोगों की अधिक तैयारी नहीं थी, और सत् को स्वीकार करनेवाले भी बहुत नहीं मिलते थे, इससे वे जङ्गल में चले गये थे। उसकी अपेक्षा तो यह काल बहुत उत्तम है कि सत्य को निडरतापूर्वक स्वीकार करनेवाले हजारों जीव हैं। अभी तो दिन-प्रतिदिन परम सत्य को स्वीकार करनेवालों की संख्या में वृद्धि हो रही है। जिन-शासन तो अभी हजारों वर्ष तक स्थित रहना है, इससे पात्र जीव भी होंगे न?

(३१) आत्मा चेतनामय है। चेतना के दो प्रकार हैं: दर्शन और ज्ञान। जो दृष्टा-ज्ञाता शक्ति है,वह तो त्रिकाली गुण है, वह सामान्य है। देखने-जानने का कार्य तो उसकी विशेष पर्याय द्वारा होता है। दर्शनगुण है, वह सामान्य है, और दर्शन उपयोगरूप पर्याय विशेष है; परन्तु उसका विषय सामान्य है। सामान्य का अर्थ विशेषरहित सामान्य नहीं, परन्तु सभी वस्तुओं में भेद किए बिना सत्तामात्र का ग्रहण करता है, उसका नाम सामान्य है। ज्ञान-उपयोग प्रत्येक पदार्थ को विशेष भेद करके जानता है, इससे उसे विशेष कहा जाता है। अतः विषय की अपेक्षा से दर्शन सामान्य है और ज्ञान विशेष है। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान द्वारा जीव को परद्रव्यों से भिन्न जानकर स्वरूपोन्मुख होने की यह भावना है।

भावना का अर्थ क्या है? भावना स्वरूपोन्मुख होनेवाली पर्याय है, उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। भावना मोक्षमार्गरूप है, भावना त्रिकाल नहीं है परन्तु वर्तमान पर्यायरूप है; यह भावना ही धर्म की क्रिया है। क्रिया का अर्थ है परिवर्तन। द्रव्य-गुण त्रिकाल है, उनमें परिवर्तन नहीं होता, परन्तु पर्याय में क्रिया अर्थात् परिवर्तन होता है।

(३२) मैं ज्ञाता को जानता ही हूँ—ऐसा विचार करने से यद्यपि विकल्प तो है, परन्तु वहाँ विकल्प की ओर उन्मुखता नहीं है किन्तु स्वभावोन्मुखता है। मैं विकल्प हूँ—ऐसा लक्ष्य में नहीं लिया, परन्तु 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा लक्ष्य में लेकर स्वोन्मुख हुआ है, इससे विकल्प से अंशतः पृथक् हुआ है। अब आगे बढ़कर अभेद स्वरूप की ओर ढ़लता है और 'मैं सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूँ—ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ'—ऐसा विकल्प रहित अनुभव करता है। अभेद अनुभव को वाणी द्वारा समझाने से भेद आ ही जाता है, परन्तु समझदार जीव कहनेवाले का आशय पकड़कर भेद को गौण करके अभेद को समझ जाते हैं। बस, इसी प्रकार बीच में व्यवहार आ जाता है। परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि 'हंतः' अर्थात् खेद है कि बीच में भेदरूप व्यवहार आये बिना सीधा अभेद में नहीं पहुँचा जाता।

(३३) यह मोक्ष अधिकार है। मोक्ष के निकट जाने से अर्थात् स्वरूप में लीनता करने से एकदम समस्त वृत्तियाँ लय होकर बंधन-भाव रहित पूर्ण निर्मलदशा हो जाती है—उसका यह वर्णन है। यहाँ उसकी भावना है। जैसी स्वभाव की भावना करे, उसी प्रकार का साक्षात् अनुभव होता है, जैसी भावना वैसा भाव, अर्थात् जैसी आत्मा की भावना करे, वैसा परिणमन होता है। यदि अपने आत्मा का शुद्ध जानकर उसकी भावना करे, तो शुद्धदशारूप परिणमन हो जाता है, और यदि आत्मा की अशुद्धरूप ही भावना करे तो अशुद्धदशारूप परिणमन होता है। पहले आत्मा के शुद्धस्वभाव का बराबर निर्णय करे तो पश्चात् उसकी भावना करके—उस ओर उन्मुख होकर—परिणमित होकर उसका अनुभव करे और पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो।

मोक्ष कैसे होता है—यह बतलाते हुए आचार्य भगवान ने कहा है कि स्वभाव को लक्ष्य में लेते हुए बीच में भेद की वृत्ति आयेगी तो अवश्य, परन्तु उस वृत्ति से रहित आत्मस्वभाव की प्रतीति करके अभेद स्वरूप में एकाकार चिन्मात्ररूप से स्थिर होना ही आत्मा का ग्रहण करने की रीति है। और इस प्रकार आत्मा का ग्रहण करना वह मोक्ष का उपाय है।

दीक्षावन में वैराग्य-भावना

[बीछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय फाल्गुन सुदी ६ के दिन भगवान के दीक्षा कल्याणक प्रसंग पर दीक्षावन में पूज्य स्वामीजी का व्याख्यान]

(१) दीक्षा से पहले भगवान का आत्मभान

आज भगवान का दीक्षाकल्याणक महोत्सव है। यहाँ जो तीर्थंकर भगवान का दीक्षा कल्याणक होता है, वह तो स्थापना के रूप में हो रहा है। पूर्व में जो तीर्थंकर भगवान हो गये हैं, उनका ज्ञान में वर्तमान में स्मरण करके स्थापना की जा रही है। पूर्वकाल में अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं; वे तीर्थंकर मति-श्रुत-अवधि, ऐसे तीन ज्ञानसहित जन्म लेते हैं और अनेक क्षायिक सम्यग्दर्शन सहित जन्म लेते हैं। माता के पेट में आयें, उस समय भी अन्तर में ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान है। शरीर-मन-वाणी का एक रजणक भी मेरा नहीं है, और जो क्षणिक शुभाशुभ विकार होता है, वह किसी पर के कारण नहीं होता, परन्तु मेरे पुरुषार्थ की हीनता से होता है। वह शुभाशुभ विकार मेरे स्वभाव में से नहीं आता और वह मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड आनन्द का सागर हूँ– ऐसे भानसहित भगवान का आत्मा स्वर्ग या नरक में से आता है। श्री ऋषभदेव भगवान पूर्वभव में सर्वार्थसिद्धि के देव थे, वहाँ से तीन ज्ञानसहित मरुदेवी माता के गर्भ में आये थे।

जिस प्रकार नारियल में ऊपर के छूछे, नरेली और अन्दर की लालाई-इन तीनों से खोपरे को गोला पृथक् उसी प्रकार आत्मा का चैतन्य गोला है; वह इन स्थूल औदारिकशरीररूप छूछे, कार्मणशरीररूप नरेली और अन्दर के राग-द्वेष-रूप लालाई–तीनों से पृथक्, चैतन्यबिम्ब सहजानन्द शांतरस की मूर्ति है। जिस प्रकार खोपरे के मीठे और सफेद गोले में जो लालाई है, वह वास्तव में नरेली की ओर का भाग है; उसी प्रकार आत्मा आनन्द और चैतन्य का गोला है, उसमें जो विकारी वृत्तियाँ होती हैं, वे पराश्रय से होती हैं; वह वास्तव में चैतन्य की जाति नहीं है;–ऐसा भेदज्ञान भगवान को मुनि होने से पहले था। अनन्त तीर्थंकर ऐसे भेदज्ञान सहित ही माता के गर्भ में आते हैं। मैं तीर्थंकररूप अवतरित हुआ हूँ–ऐसा विकल्प, और मुझे तीन ज्ञान हैं–ऐसे भेदभाव से रहित अतर में जो अभेद निर्विकल्प आनन्द का कन्द चैतन्यस्वभाव है, उसका भगवान को भान था; और उसी के प्रताप से वे तीर्थंकर हुए हैं। इस प्रकार अन्तर की पहचान करना चाहिए।

भगवान, माता के गर्भ में आये, उसके छह मास पूर्व से प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती थी और देव–देवियाँ माता की सेवा करने आते थे। भगवान का आत्मा तो अन्तर से सबके प्रति उदास

था; वह शरीर को भी अपना नहीं मानता था। जब वे माता के पेट में थे, उस समय भी–'इस माता के पेट में रहा हूँ, यह मेरे माता-पिता हैं, यह इन्द्र मेरी सेवा करते हैं'–ऐसा विकल्प भी रुचि से नहीं था। ऐसे भानसहित श्री ऋषभदेव भगवान का जन्म हुआ। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो'–मैं सिद्ध हूँ, त्रिकाली अखण्ड आनन्दस्वरूप हूँ–ऐसे आत्मभानसहित गर्भ में आये, ऐसे भानसहित जन्म लिया और ऐसे ही भानसहित बढ़े।

(२) भगवान को वैराग्य

एकबार ऋषभदेव भगवान के राजदरबार में देवियाँ भक्तिपूर्वक नृत्य कर रही थीं, उसी समय उनमें से एक देवी की आयु पूर्ण हो गई। सो क्षणभंगुरता देखकर भगवान के अन्तर में एकदम वैराग्य जागृत हुआ, और वे अनित्य–अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

(३) बारह भावनाओं का चिन्तवन और दीक्षा

अहो! आत्मा नित्य वस्तु है, और यह शरीर तो संयोगी है। माता की गोद में आने से पूर्व तो यह शरीर अनित्यता की गोद में आया है; जन्म होने से पूर्व ही इसे अनित्यता लागू हो गई है। और प्रतिक्षण जो विकारी परिणाम होते हैं, वे भी अनित्य हैं, पहले क्षण होकर दूसरे क्षण वे नष्ट हो जाते हैं। मेरा चिदानन्द आत्मा ध्रुव है, व नित्यस्थायी है....ध्रुवरूप आत्मा ही मुझे शरणभूत है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा को अपने अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थंकर-गणधर-मुनि-इन्द्र या चक्रवर्ती शरणभूत नहीं हैं; एक अपना ध्रुवस्वभाव ही शरणभूत है। ....ऐसे अपने ध्रुवस्वभाव को भूलकर मिथ्यात्व के कारण जीव अनन्त-संसार में परिभ्रमण कर रहा है। संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने, पूर्वभव की स्त्री की माता के रूप में और माता का स्त्री के रूप में अनन्तबार सेवन किया है। पुण्य करके स्वर्ग में और पाप करके नरक-निगोद में भ्रमण कर रहा है। धिक्कार है – ऐसे संसार को! संसार कोई अन्य वस्तु नहीं किन्तु आत्मा का ही विकार है... आत्मा सदैव पवित्र-मूर्ति है, और इन्द्रियाँ तथा शरीर अशुचिमय हैं ... त्रिकाल एकरूप मेरा स्वभाव है, इसलिए मुझे अपने स्वभाव से एकता है ..... मैं एक ज्ञायक-स्वभाव हूँ, शरीर और रागादि मेरा स्वरूप नहीं है ....स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन होने से संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं... इस संसार में जीव को रत्नत्रयरूप बोधिनी की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है। पूर्व अनन्तकाल में आत्मा को और सबकुछ मिल गया है, लेकिन जो नहीं मिला, वह एक रत्नत्रय ही है–इत्यादि प्रकार से बारह वैराग्य भावनाओं का भगवान चिन्तवन करते थे। पश्चात् लौकान्तिक देव आते हैं और प्रभु की स्तुति करके वैराग्य का अनुमोदन करते हैं और देव आकार दीक्षाकल्याणक

मनाते हैं। भगवान दीक्षा लेकर चारित्रदशा अंगीकार करते हैं। यह सब दृश्य यहाँ चुका है।

(४) चारित्र दशा

आत्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। चारित्रदशा किसी बाह्य वेश में नहीं है, परन्तु सिद्ध जैसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होने से तीन कषायों का नाश होकर छट्ठे-सातवें गुणस्थान की वीतरागी दशा प्रगट होती है, वह चारित्रदशा है। ऐसी चारित्रदशा जिसे प्रगट हुई हो, उसी को मुनि कहा जाता है; चारित्रदशा के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। भगवान को अपने आत्मा का परिपूर्ण आनन्द दृष्टि में तो आया है, पूर्णानन्दस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ है, अपने आत्मा में निश्चित हो गया है कि मैं इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान होनेवाला हूँ; परन्तु तीर्थंकर भगवान को भी चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। इससे भगवान को वैराग्य होने से वे दीक्षा अंगीकार करते हैं। 'मैं दीक्षा लेकर मुनि हो जाऊँ'—ऐसा विकल्प तो राग है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; और बाह्य में केशलोंच या वस्त्र उतरने की क्रियाएँ जड़ की हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है। आत्मा को मुनि होने की वृत्ति उठी, वह राग है; उस राग के कारण चारित्रदशा नहीं होता; लेकिन स्वभाव की लीनता से चारित्रदशा होती है। उसी प्रकार उस राग के कारण वस्त्र उतरने की क्रिया नहीं होती, किन्तु वह जड़ के स्वभाव से होती है।

आत्मा को मुनिदशा प्रगट होने से वस्त्रों का संयोग उनके अपने कारण से स्वयं दूर हो जाता है—वहाँ आत्मा के शुभविकल्प को निमित्त कहा जाता है, परन्तु वास्तव में तो वस्त्र के पुद्गलों में वर्तमान पर्याय का वैसा ही परिणमन होने की योग्यता थी। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। और जो पंचमहाव्रत का शुभ विकल्प उठा, उसे चारित्रदशा का निमित्त कहा जाता है, लेकिन वास्तव में तो वह राग है—वह वीतरागी चारित्र का कारण नहीं है; और आत्मा परमार्थ से उस विकल्प का कर्ता नहीं है। आत्मा के अन्तरस्वभाव में स्थिर होने से विकल्प छूट जाते हैं। भगवान ने वस्त्रों का त्याग किया—ऐसा कथन आता है, परन्तु वास्तव में तो स्वरूप में स्थिर होने से राग छूट गया है और राग छूट जाने से उसके निमित्तरूप वस्त्र स्वयंमेव छूट गये हैं।

स्वयं दीक्षा अंगीकार करके भगवान आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही उन्हें सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान तथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ। त्रिकाल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि प्रथम तो आत्मा के भानपूर्वक मुनि होने का विकल्प उठता है, परन्तु उसका आश्रय नहीं मानते, और बाह्य में परिग्रह का संग नहीं होता, फिर अन्तरंग चैतन्यपिण्ड में लीन होने से मुनिओं

को प्रथम सातवीं भूमिका प्रगट होती है। जिसे मुक्ति हो उसे यह दशा आये बिना कभी मुक्ति नहीं होती। गृहस्थपना में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना होता है, परन्तु इस दशा के बिना किसी सम्यग्दृष्टि को भी गृहस्थदशा में मुक्ति नहीं हो जाती।

(५) मुनिदशा कैसी होती है?

कोई जीव द्रव्यलिंगी मुनि होकर ऐसा माने कि वस्त्रत्याग की क्रिया मैं करता हूँ, तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। साधुपद में स्वरूप के भानपूर्वक राग दूर होने से शरीर की निर्ग्रन्थता उसके अपने कारण हो जाती है, उस समय पुद्गल परावर्तन का काल ही वैसा होता है। आत्मा का स्वकाल अपने मे स्थित होने का है। जहाँ आत्मा के स्वकाल में भाव निर्ग्रन्थता हुई कि वहाँ अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय-कर्म के परमाणुओं का नाश हो जाता है, वह पुद्गल का स्वकाल है, और बाह्य में वस्त्रादि छूटे, वह वस्त्रादि के परमाणुओं का स्वकाल स्वतन्त्र होने पर भी, जब आत्मा में स्थिर होने का स्वकाल हो, तब परमाणुओं में तीन कषाय–कर्म दूर न हों – ऐसा नहीं हो सकता; ऐसा निर्मल मुनिदशा का और वस्तु का स्वभाव है। अनादि-अनन्त सन्तों की ऐसी ही दशा है कि अन्तर में एकदम वीतरागता होती है और बाह्य में वस्त्र का एक ताना तक नहीं होता। शरीर पर वस्त्र का एक ताना भी रखने का लक्ष्य हो और छट्ठे-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा बनी रहे–ऐसा तीनकाल तीनलोक में नहीं हो सकता। यह किसी का कल्पित मार्ग नहीं है, परन्तु आत्मा के भानपूर्वक लंगोटीरहित दशा होती है – ऐस सनातन अनादि वस्तुस्वभाव की पर्याय का धर्म है; उस पर्याय को अन्यथा माने, उसने मुनिदशा को या वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। यद्यपि वस्त्र ग्रहण–त्याग का कर्ता आत्मा नहीं है, तथापि जब आत्मा मे तीन कषाय के नाशरूप वीतरागी चारित्र प्रगट हो, उस समय राग और वस्त्रों का सहजरूप से अभाव हुए बिना भी नहीं रहता–ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यह बात कल्पना से नहीं कही जा रही है, परन्तु भगवान की दिव्यध्वनि में से कही जा रही है। वींछिया ग्राम का अहो भाग्य है कि यहाँ पर पंचकल्याणक महोत्सव हो रहा है, और इस वन में दीक्षाकल्याणक होता है।

(६) धन्य अवसर की भावना

अहो! आज महा वैराग्य का दिन है, परम उदासीनता का प्रसंग है। आज भगवान परम वीतरागी चारित्रदशा धारण करते हैं। इस आत्मा को भी ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं मिलती। यहाँ तो भगवान की दीक्षा की स्थपाना है, लेकिन ऐसे प्रसंग पर स्वयं अन्तर में ऐसी

भावना करे कि–हमें ऐसी निर्ग्रन्थदशा कब होगी! मैं कब मुनि होकर आत्मध्यान में लीन होऊँगा! मैं कब वीतरागी सन्तों की पंक्ति में बैठूँगा!–ऐसी भावना कौन करता है? जिसे आत्मा के चिदानन्द रागरहित स्वभाव का भान हो और यथार्थ मुनिदशा कैसी होती है–उसकी पहचान हो–वही ऐसी यथार्थ भावना कर सकता है। यह मुनि दीक्षा की स्थापना का निक्षेप है; परन्तु वह निक्षेप कौन करता है? स्थापना तो निमित्त है, पर है, व्यवहार है। उपादान के बिना निमित्त नहीं होता, स्व के भान बिना पर का भान नहीं होता और निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार नहीं होता। इसलिए जिसे स्व-उपादान के निश्चयस्वभाव की पहचन हो, वही परनिमित्त में स्थापनानिक्षेपरूप व्यवहार को यथार्थ जानता है। मुनिपद तो रागरहित चारित्रदशा है। पहले जिसे रागरहित आत्मस्वभाव की पहचान हुई हो, वही रागरहित होने का पुरुषार्थ कर सकता है; परन्तु जो राग को ही अपना स्वरूप मानता हो, वह जीव किसके बल से रागरहित होने का पुरुषार्थ करेगा? उसकी रागरहित होने की भावना भी यथार्थ नहीं होती। धर्मी को अपने ज्ञान–मूर्ति रागरहित स्वभाव की दृष्टि है और अवस्था में निर्बलता के कारण राग है, उस राग को स्वभाव की एकता के बल से दूर करके मुनि होने की भावना है। सहजस्वरूप की एकाग्रता के बिना 'राग को छोडूँ'–ऐसी हठ से राग नहीं छूटता। हठ से बाह्य त्याग कर दे तो वह सच्चा त्याग नहीं कहलाता। 'राग दूर करूँ'–ऐसी बुद्धि से राग दूर नहीं होता परन्तु उत्पन्न होता है–तथापि उसे राग दूर करने का उपाय माने तो वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में राग को दूर नहीं करना पड़ता, किन्तु दूसरे समय अन्तर में ध्रुव सत्स्वभाव का आश्रय करने से राग की उत्पत्ति ही नहीं है। इस प्रकार भगवान आत्मा को राग का त्याग नाममात्र है; क्योंकि राग, स्वभाव में नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ राग को छोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु सहज ही छूट जाता है। अहा! आत्मा, राग को भी नहीं छोड़ता, तब फिर वस्त्रादि पर को आत्मा छोड़े–यह कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर भी, मुनिदशा में वस्त्र का संयोग रहे–ऐसा भी तीनकाल में नहीं होता। तीनकाल–तीनलोक में वस्तु की पर्याय का ऐसा ही नियम है कि छठवीं-सातवीं भूमिका में विद्यमान सन्त–मुनि को वस्त्र रखने का विकल्प भी नहीं होता। अहो! यह तो परम उदासीनदशा है। जिस प्रकार कछुए को भय होनेपर वह अपने मुँह और पैरों को सिकोड़ कर पेट में छिपा लेता है, उसी प्रकार मुनि की दशा इन्द्रियों की ओर से सिकुड़ कर स्वभाव में ढ़ल गई है, मुनि अपने स्वभाव में गुप्त हो गये हैं। मुर्दे की भाँति जो शरीर के रजकण कार्य करते हैं, उनका स्वामित्व अन्तर में से उड़ गया है–ऐसे सन्त–मुनि को शरीर का रक्षण करने की या उसे ढ़ँकने की वृत्ति उठने का भी अवकाश नहीं रहा है। अहो! आत्मा को यह दशा प्रगट हो, वह धन्य पल है! धन्य काल है! धन्य भाव है! इस धन्य अवसर की भावना करते

हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि–

नग्नभाव भुंडभाव सह अस्नानता, अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे श्रृंगार नहीं, द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो;
–अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवेश?

–ऐसी दशा के बिना तीनकाल-तीनलोक में पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं होती। शरीर-मन-वाणी की किसी भी क्रिया पर आत्मा का अधिकार नहीं है–ऐसे अन्तरंग भानपूर्वक शरीर-श्रृंगार की वृत्ति दूर हो गई है, अन्तर में चैतन्य के ध्यान के लिए बाह्य में सहजतया, मुख्य तथा मौनदशा वर्तती है। मुनिवरों को स्वभाव की लीनता में ऐसी उत्कृष्ट वैराग्यदशा होती है।

(७) वैराग्य

परमागम श्री समयसार भगवान वैराग्य का अर्थ ऐसा करते हैं कि पुण्य-पाप से रुचि हटाकर आत्मस्वभाव की रुचि करना ही वैराग्य है। चैतन्यमूर्ति आत्मा की ओर उन्मुख होने से पुण्य–पाप के प्रति विरक्त हो गया है। स्वभाव की रुचि हुई, वह अस्ति और स्वभाव की रुचि होने से पुण्य–पाप की रुचि हट गई, वह नास्ति। अखण्डानन्द स्वभाव की रुचि होने से 'पुण्य अच्छा और पाप बुरा'–ऐसी विपरीत मान्यत दूर हो गई और पुण्य-पाप में मध्यस्थता हो गई वह वैराग्य है, उसे पाप का तिरस्कार नहीं है और पुण्य का आदर नहीं है, लेकिन पुण्य और पाप दोनों से वह विरक्त है।

जीव रक्त बाँधे कर्म ने, वैराग्य प्राप्त मुकाय छे।
अे जिनतणो उपदेश तेथी न राच तुं कर्मो विषे॥

शुभकर्म से आत्मा को लाभ होता है–ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह जीव, कर्म में ही रक्त है, उसे सच्चा वैराग्य होता ही नहीं, और वह कर्म का बंध करता है। धर्मी जीव, शुभाशुभ-दोनों कर्मों से भिन्न आत्मस्वभाव को जानकर उन शुभ-अशुभ कर्मों के प्रति विरक्त है–इससे वह मुक्ति प्राप्त करता है। पुण्य और पाप-दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं–ऐसा भान होने से उन दोनों के प्रति मध्यस्थ होकर अपने स्वभाव के आश्रय से होनेवाली निर्मल पर्याय को भगवान वैराग्य कहते हैं।

(८) दीक्षा लेने के पश्चात् अन्तरंग शांतिरस के अनुभव में भगवान को हुए एक वर्ष के उपवास

चारित्रदशा धारण करने से पहले भी भगवान ऋषभदेव के आत्मा में निश्चित था कि इसी भव में मैं केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त करनेवाला हूँ। लेकिन साथ ही साथ ऐसा भी निश्चित था कि

पुरुषार्थ के बिना केवलज्ञान नहीं होता। जब मैं पुरुषार्थ के द्वारा मुनिदशा प्रगट करके आत्मध्यान में स्थिर होऊँगा, तभी केवलज्ञान होगा। भगवान ने जब दीक्षा ली, तब उनके साथ देखा-देखी दूसरे चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा ले ली थी; लेकिन वह तो मात्र बाह्य नकल थी; अन्तर में अकल बिना नकल थी। ऋषभदेव भगवान तो आत्मीक आनन्द के अनुभव में लीन होने से उन्हें छह महीने तक आहार की वृत्ति नहीं हुई; लेकिन दूसरे जो राजा लोग दीक्षित हुए थे, वे क्षुधा सहन न कर सके और भ्रष्ट हो गये। इससे कहा जाता है कि–'भूखे मरतां भागी गया।' अन्तरंग शांतिरस पान किए बिना समता कैसे रहती? 'मैंने इतने दिनों तक आहार नहीं लिया'–इस प्रकार जहाँ आहार न लेने के दिन गिने जाते हों, वहाँ आत्मा की सच्ची समता कैसे रहेगी? उसका लक्ष्य तो आहार पर गया है। आहार और शरीरादि बाह्य-पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर अन्तरंग परमानन्द के अनुभव में एकाग्र होने से सच्ची समता रहती है। श्री ऋषभदेव को आत्मा में स्थिर होने से आहार का विकल्प टूट गया और छह महीने के पश्चात् आहार की वृत्ति उठी; लेकिन छह महीने तक आहार का योग न बना। वहाँ भगवान तो आत्मा के आनन्द में मग्न हैं, बाह्य में आहार का संयोग तो उतने समय तक होना ही न था, इससे नहीं हुआ। बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अज्ञानीजन बारह महीने तक आहार न होने को भगवान का तप मानते हैं और उसकी नकल में वर्षीतप करते हैं; परन्तु आहार नहीं आया, वह तो जड़ की क्रिया है, उसमें तप नहीं है। तप तो आत्मा के ध्यान में लीन होने से सहज ही इच्छा टूट जाने का नाम है। अंतरंग दशा को भगवान दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप कहते हैं।

(९) प्रथम सम्यग्दर्शन और पश्चात् सम्यक्चारित्र

प्रथम तो सत्समागम से आत्मा की पहचान करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, और फिर उसमें विशेष एकाग्र होने से पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा सहज ही हट जाती है, उसका नाम त्याग है। सम्यग्दर्शन होते ही राग की मिठास तो सहज ही उड़ जाती है, इससे विषयों में सुख-बुद्धि नहीं रहती। अविरति सम्यग्दृष्टि को राग हो और बाह्य में स्त्री आदि का संयोग हो परन्तु उनमें उसे कहीं भी सुखबुद्धिपूर्वक का राग नहीं होता, मात्र आसक्ति का राग होता है। पश्चात् आत्मा में विशेष स्थिरता होने से आसक्ति का भी राग नहीं रहता, और बाह्य में भी स्त्री आदि कुछ भी परिग्रह नहीं होता। ऐसी दशा को चारित्र कहते हैं।

जो जीव विषयों में सुख मानता हो तथा पुण्य में और उसके फल में जिसे मिठास हो, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा में आनन्द नहीं है–ऐसा जो मानता हो, वही विषयों में और विकार में

सुख मानता है। धर्मी जीव को तो सुखस्वरूपी आत्मा का भान है; इससे उसमें स्थिर होने से राग छूट जाने से 'बाह्य स्त्री आदि को छोड़ दिया–ऐसा कहा जाता है। वास्तव में 'मैं रानियों को छोड़ दूँ'–ऐसा ज्ञानियों का अभिप्राय नहीं होता। राग था, तब रानियों का निमित्तपना था; लेकिन स्वभाव की चारित्रदशा के द्वारा अपने उपादान में से राग दूर हो गया, इससे रानी का निमित्तपना भी छूट गया, इससे 'रानियों को छोड़ा'– ऐसा कहा जाता है। इसे समझे बिना और ऐसी दशा प्रगट किये बिना कोई जीव परमात्मा नहीं हो सकता।

(१०) अहो, धन्य है वह दशा!

अहो! भगवान ने ऐसे भानपूर्वक चारित्रदशा ग्रहण की और वीतरागी ध्यान में स्थिर हुए।

अहा! धन्य है वह दशा!
अेह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तोपण निश्चय राजचन्द्रमनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाअे थाशुं तेज स्वरूप जो...
अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत् पुरुषने पंथ जो....

अहा! अंतरंग भानपूर्वक की निर्ग्रंथता! श्रीमद् राजचन्द्रजी कावे आत्मा का भान है; वे गृहस्थपने में यह भावना करते हैं। श्रीमद् ने १९५२ की साल में २८ वर्ष की उम्र में ऐसी भावना की है। ऐसी भावना भाये बिना और वैसी साक्षात्दशा प्रगट किए बिना किसी भी जीव का कल्याण नहीं होता। चारित्रदशा के बिना अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो जाता। २८ मूलगुण संतों का सनातन मार्ग है। इस पद में यह धन्य अवसर अर्थात् आत्मा को वीतरागीदशा का स्वकाल आयेगा? उसकी उग्र भावना की है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके यह भावना करने योग्य है। ऐसी भावना से आत्मा की रागरहितदशा होकर केवलज्ञान हो वही कल्याण है।

आज का दिन महा वैराग्य भावना का है।

सत्य वस्तु-स्वरूप

जो कभी न बदले–ऐसा सच्चा आत्मस्वरूप क्या है? वही कहा जा रहा है। तीनकाल –तीनलोक में सत्य वस्तुस्वरूप को बदल सके–ऐसा कोई प्राणी नहीं है। सत्य को कोई जीव विपरीत प्रकार से माने तो उससे उस जीव को अपने भावों में विपरीतता होती है, परन्तु कहीं त्रिकाली सत्-स्वभाव नहीं बदल जाता। अपने त्रिकाल एकरूप सत्-स्वभाव को स्वीकार करना मोक्ष का पंथ है। क्षणिक भावरूप अपने को न मानकर पूर्ण गुणस्वभावरूप स्वीकार करके, वह पूर्ण स्वभाव ही ग्रहण करने योग्य है। अत्यन्त निकटभव्य जीवों को अर्थात् अल्पकाल में सिद्ध होनेवाले जीवों को, अपने आत्मा निर्माल्य-पराधीन-विकारी या अपूर्ण नहीं मानना चाहिए; परन्तु मैं पूर्ण परमात्मा-स्वरूप हूँ–ऐसी श्रद्धा करके उसी का आदर करना–उसी में लीन होना चाहिए। पूर्णदशा प्रगट होने के पूर्व अवस्था में रागादि विकार होते हैं, परन्तु उस राग के आदर से धर्म नहीं होता। धर्मी जीव की दृष्टि उस राग पर या अपूर्णता पर नहीं होती। शुभराग करते-करते उससे परम्परा से धर्म होगा–ऐसा जो मानता है, वह जीव, राग को उपादेय मानता है, परन्तु रागरहित शुद्धस्वभाव को उपादेय नहीं मानता; इससे वह मिथ्यादृष्टि ही है। ज्ञानी अपने सहजशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि में राग को स्वीकार ही नहीं करते; इससे उनके वह राग हो तो हेयबुद्धि से है। 'मुझे अपना शुद्धस्वरूप ही उपादेय है, शुभराग हो, वह मेरा कर्तव्य नहीं है'–ऐसी धर्मदृष्टि के कारण धर्मी जीव का शुद्धस्वभाव की ओर ही परिणमन बढ़ता जाता है और रागादि अशुद्धता दूर होती जाती है। शुद्धआत्मा की श्रद्धा किसी पुण्य-भाव के द्वारा नहीं हो सकती, परन्तु शुद्धभाव से ही होती है। अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय करे तो शुद्धभाव प्रगट हो और मुक्ति हो।

आत्मा में शुभराग करते-करते धर्म होगा–ऐसा माननेवाले जीव को वीतरागस्वभाव का आदर नहीं है, परन्तु राग का आदर है। वह वीतराग का भक्त नहीं, मिथ्यादृष्टि है। जिसने विकार को कर्तव्य माना, वह जीव पाखण्डी-अधर्मी है। पुण्य करने से धर्म में आगे नहीं बढ़ा जा सकता, परन्तु पुण्य-रहित शुद्ध आत्मस्वभाव है, उसकी प्रथम श्रद्धा करने से ही आगे बढ़ा जा सकता है। स्वभाव का आदर और आश्रय करते-करते ही वीतरागता और केवलज्ञान होता है। चिदानन्द स्वभाव की श्रद्धा ही आगे बढ़ने का मूल उपाय है। जो राग हो, वह वीतरागता का मार्ग नहीं है, वस्तु का धर्म नहीं है। श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने परम आत्मस्वभाव को पहचान कर उसी के आश्रय से पूर्ण मुक्तदशा प्रगट की है। जो अनादि स्वभाव मार्ग है, उसका अनुभवन करके स्वतः

पूर्ण हुए और दिव्यध्वनि द्वारा वह मार्ग जगत को दर्शाया। अनन्तकाल में कभी भी इसी मार्ग से मुक्ति प्राप्त की जाती है।

'आत्मा का जो यथार्थ स्वभाव है, वह समझ में नहीं आता, इसलिए जो पहले से कर रहे हैं, वही करते रहो'–ऐसा अज्ञानी मानते हैं; उसका अर्थ यह हुआ कि अनादि से जो अज्ञानभाव करता आ रहा है, उसी को चालू रखना है और स्वभाव नहीं समझना है। अनादि से जिसप्रकार संसार में परिभ्रमण किया है, उसी प्रकार परिभ्रमण करना है। भाई ! अनादि से जो भाव कर–करके तू संसार में भ्रमण कर रहा है, उनसे भिन्न प्रकार का धर्म का मार्ग है; इसलिए उसे समझ तो तेरा उद्धार हो! जो उपाय है, उसे जाने बिना सत्यमार्ग हाथ नहीं लगेगा।

[नियमसार प्रवचन, गाथा ३८]

आत्मधर्म की पुरानी फाइलों के लिए निवेदन

आत्मधर्म हिन्दी और गुजराती के प्रकाशन में नुकसान न उठाना पड़े, इसलिए पहले से ज्यादा प्रति छपवाकर उसकी फाइलें बनायी थीं। इसमें से आज करीब ३००० से ३५०० रुपये की फाइलें बची हैं। फाइलों में रुके हुए रुपयों की मुझे जरूरत है। यदि कोई सज्जन या संस्था वे फाइलें खरीद ले तो मुझे सहायता होगी। कोई महानुभाव की इच्छा हो तो निम्न पते पत्र लिखने की कृपा करें।

जमनादास रवाणी
मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र